

(जीवन संदेश, लेखक : पूज्य श्रीमोटा, पृष्ठ : १२६)

संतों का दुर्गम व्यवहार एवं उसके कारण

आश्रम, साबरमती

दिनांक : ००-९-१९४२

स्वयं के सत्त्व को जल्दी से जाना जा सके ऐसा आविर्भाव संतों सामान्यतः होने नहीं देते। अतः नये जिज्ञासुओं को और आध्यात्मिक पथ से बिल्कुल अनभिज्ञों को कई बार बहुत परेशानी होती है। फलस्वरूप कुछ की श्रद्धा संतमात्र पर से उठ जाती है। अपने ही संकुचित व विकृत मानस से संतों का नापतोल करने से संतों का कुछ व्यवहार उनको अगम्य अथवा निंद्य व घृणास्पद भी लगता है। संतों के ऐसे कार्यों का गूढ़ परंतु कल्याणकारी हेतु ऐसे लोगों के समक्ष उजागर करके उनको समझाया जाये तो भी वे उन हेतुओं का मूल्यांकन नहीं कर पाते। उनके मन में एक प्रश्न खड़ा होता है कि जानबुझकर संतजन इस प्रकार का व्यवहार क्यों करते होंगे कि जिससे उनके प्रति लोगों में गलतफहमी व कुशंका फैले ? यह तो उल्टी समाज की कुसेवा हुई ऐसा उनको लगता है।

संतों के ऐसे अदृश्य रहस्यों का कारण समझना आसान भी नहीं है। ऐसे सूक्ष्म, दुर्बोध व्यवहार समझने के लिए हम प्रथम तो स्थूल और सूक्ष्म का भेद समझ लेते हैं। आँखों की पुतली स्थूल है, दृश्य पदार्थों की जो तसवीर वह झेलती है वह सूक्ष्म है, परंतु वह तसवीर स्वयं ही उसे ग्रहण करनेवाले एवं संस्कार डालनेवाले मन की बराबरी में स्थूल है। एकाग्र चित्तवाला मनुष्य आसपास के आवाजों या पदार्थों को सुन या देख नहीं सकता, यह हम सबका सार्वत्रिक अनुभव साबित करता है कि इन्द्रियों का सूत्रधार तो मन है, इन्द्रियाँ तो साधनमात्र है। इससे स्पष्ट होता है कि स्थूल (इन्द्रियाँ या दृश्य की प्रतिकृति तसवीर) से सूक्ष्म (मन) अधिक शक्तिशाली है।

परंतु मन जैसे चमत्कारिक तत्त्व की गूढ़ता में हम थोड़ा अधिक गहरे जायेंगे तो ज्ञात होगा कि मन से भी सूक्ष्म कुछ और है, अथवा चर्चास्पद कथन छोड़ दे तो इतना अवश्य कहा सकते हैं कि मन के दो स्तर तो हैं ही : उच्च मन और निम्न मन - यह उच्च मन निम्न मन से अधिक सूक्ष्म है और अधिक शक्तिशाली है। परंतु सामान्यतः विपरीत नजर आता है। अनेक डकैतों

व खूनीओं का संतों में हुए परिवर्तन के ऐतिहासिक दृष्टांत से ऐसा अवश्य कहा जायेगा कि उच्च मानस चाहे कितना भी ढँका हुआ, दबा हुआ, मरा हुआ क्यों न हो परंतु वह है चिरंजीव। जबकि निम्न मानस नाशवंत है और उच्च मानस के हाथों पराजित होता है। अलबत्ता, निम्न मानस को पराजित करना अथवा दिव्य रूपांतरण या योग्य नियंत्रण करना आसान नहीं है परंतु असंभव भी नहीं है।

इससे एक नियम सिद्ध हो सकता है कि स्थूल तत्त्व से सूक्ष्म तत्त्व अधिक शक्तिशाली है। सृष्टि के पोषण में दोनों अनिवार्य हैं यह सच है फिर भी सूक्ष्म तत्त्व की ओर यदि कोई अधिक ध्यान दे तो वह अयोग्य है ऐसा हम उपरोक्त कारण से नहीं कह सकते।

मनुष्य शरीरधारी होने से उसे इस जगत में कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति करनी ही पड़ती है। केवल निष्क्रियता उसके लिए असंभव है। परंतु मनुष्य समाज में विभिन्नता होने से समाज के अस्तित्व एवं संवर्धन हेतु विभिन्न स्वभाव के एवं विभिन्न प्रकार की शक्ति के मनुष्यों की तथा विभिन्न कार्यक्षेत्रों की आवश्यकता हमेशा रहती है। आज के जमाने में सभी सिपाही बन जाये यह असंभव भी है और अयोग्य भी। मतलब, जिस प्रकार व्यायाम शिक्षक का कार्यक्षेत्र शरीर विकास है और शिक्षक का कार्यक्षेत्र मनोविकास या बुद्धिविकास है उसी प्रकार संत का कार्यक्षेत्र मनुष्य स्वभाव का दिव्य रूपांतरण है। शील का विकास करना भी शिक्षक के कार्यक्षेत्र में आता है ऐसा क्वचित ही कहा जा सकता है। पदार्थविद्या जैसे स्थूल या अर्थशास्त्र, न्याय या फिलसूफी जैसे सूक्ष्म विषयों की जानकारी देने में ही शिक्षक के कार्य की परिसीमा आ जाती है। बहुत बहुत तो यह कहा जा सकता है कि इससे विद्यार्थी की बुद्धि, अवलोकन शक्ति या अनुमान शक्ति का विकास होता है, अर्थात् मन के स्थूल विभाग का विकास होता है। अलबत्ता, ये सारे गुण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक नहीं है ऐसा नहीं कहना है, परंतु इससे जो आध्यात्मिक विकास होता हो वह बहुत ही कम और अपरोक्ष रूप से होता है। लेकिन जहाँ शिक्षक का कार्य समाप्त होता है वहीं से ही संत या गुरु का कार्य आरंभ होता है। बुद्धि, चित्त, संस्कार, सुप्त मानस (Unconscious mind), भावनायें, प्रेरणायें, प्राण आदि में जो खराब आदतें गले में घण्टी समान लटकते हुए साधक का आत्मीय विकास रोकती हैं वह

सब दूर करके अथवा उसे शुद्ध करके, आत्मस्थिति में आने में साधक के प्रयास को सहायभूत होना यह कार्य गुरु का है। श्री महेरबाबा कहते हैं कि, 'He comes not to teach but to awaken.'

ऐसे अति सूक्ष्म कार्य के लिए प्राकृतिक रूप से साधन भी सूक्ष्म ही चाहिए। टेबल जैसे स्थूल पदार्थ के सृजन के लिए शस्त्र व हस्तकौशल्य की आवश्यकता है। बुद्धिविकास जैसे इससे भी सूक्ष्म सृजन के लिए वाणी-लिखित या मौखिक की मुख्यतः आवश्यकता रहती है। यही नियमानुसार आध्यात्मिक विकास के लिए जो विशेष सूक्ष्म साधन की आवश्यकता है उसे शक्ति संचारण या आध्यात्मिक वातावरण या **Psychic contact** ऐसा नाम दे सकते हैं। यह साधन इतना सूक्ष्म है कि शिष्य को प्रारंभ में तो पता ही नहीं चलता कि वह उसके प्रभाव के नीचे व्यवहार कर रहा है। अलबत्ता, इस विद्या में भी वाणी बिल्कुल वर्ज्य नहीं है। लेकिन सूक्ष्म संबंध से उपदेशात्मक वाणी कम प्रभावकारी होती है और इससे उसका उपयोग कम होता है।

इसी कारण से ऐसे संत कई बार निष्क्रिय अथवा बिल्कुल अलिप्त-जड़ता की सीमा तक अलिप्त दिखते हैं और वह केवल जगत के आंदोलनों के प्रति ही नहीं परंतु जिन्होंने उन्हें मार्गदर्शक के रूप में स्वीकृत किया हो उनके प्रति भी। वास्तव में तो जगत या अपने शिष्य भले न जाने, फिर भी वे तो सूक्ष्म और अदृश्य रूप से बहुत ही प्रवृत्तिशील उनके हित के लिए ही रहते हैं। इसीलिए वे वाणी से उपदेश दे या न दे, अपने शिष्यों को अपने स्थूल सामीप्य में रखे या ऐसे शिष्यों को उनकी आसक्ति के कारण अत्यधिक कटु लगे फिर भी दूर ही दूर रखे, फिर भी आध्यात्मिक शक्ति के आंदोलन वे सदा बहाते ही रहते हैं। ऐसे तरंग साधकों के व्यक्तित्व की गहराई में जाकर उनमें परिवर्तन करने लगता है। साधकों की तीव्र आकांक्षा और उत्कट प्रेम के प्रति उदासीन रहने का अन्य एक कारण यह है कि ऐसी उदासीनता का दिखावा ही साधक को अति पुरुषार्थी बनकर गुरु का प्रेम पाने का प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करता है। इसप्रकार शुष्कता का संतों का स्वांग भी जगत हितार्थ ही होता है।

साधक की निद्रावस्था का सदुपयोग करना भी ऐसे संत चूकते नहीं हैं। निंद में हमारा जाग्रत मन अधिक निश्चेष्ट व अशक्तिमान होता है। हमारी

इन्द्रियों की बहिर्मुखता उतनी देर के लिए ही शिथिल रहती है। केवल हमारा प्राण जाग्रत होता है। ऐसे समय में साधक के आंतरसत्त्व (**Inner being**) तक पहुँचना अधिक सुगम हो जाता है। इसलिए संत-महापुरुष ऐसे अवसर का लाभ लेना नहीं छोड़ते हैं।

साधकों की जाग्रत परिस्थिति दौरान भी गुरु निष्क्रिय नहीं होते। सूक्ष्म तत्त्वों को पहचानने की साधकों की दृष्टि अधिक-से-अधिक खिलती जाये इसलिए वे उन्हें सदा सचेत रखते हैं। ज्यों ज्यों साधकों की प्रगति होती जाती है त्यों त्यों उन्हें भरोसा होता जाता है कि, 'युँ तो उनके आध्यात्मिक मार्गदर्शक के वृत्ति, भावना या वर्ताव, कुछ भी पूर्व में किये विचारों से प्रेरित होकर नहीं परंतु सहसा और स्वतःस्फूर्त होते हैं फिर भी या इसीसे ही - उनके प्रत्येक कार्य में, वाणी में और हावभाव में गूढ़ हेतु भी समाया होता है। यह समझ उनमें विशेष रुढ़ होते ही साधक ऐसे संत के बाह्य विचित्र अथवा बिल्कुल सामान्य प्रकार के वाणी व व्यवहार के पीछे ढँके हुए गूढ़ हेतु ढूँढ़ने अपनेआप लगते हैं। इस प्रकार उन्हें सतत जाग्रत व सावध रहना ही पड़ता है। और प्रत्येक शिष्य के आंतर्मथन तथा उनके प्रश्न गुरु को ज्ञात होने से वे ऐसे प्रश्नों का उपाय बातोंबातों में- कभी किसी से बात करते ही दे देते हैं। साधक जाग्रत न रहे तो उसका यह प्रश्न दूसरा ऐसा अवसर मिल बिन सुलझा ही रहता है। जिससे उसकी कठिनाई चालु रहती है। अतः साधकों को गुरु की विशिष्ट भाषा, रीतभात आदि समझने के लिए मेहनत करनी पड़ती है और अपने तथा गुरु के मन का निरीक्षण एवं पृथक्करण ऐसे प्रयास के एक अंत के रूप में उनको करना पड़ता है। इतने परिश्रम के बाद जब साधक गुरु की वाणी या व्यवहार का रहस्य समझते हैं एवं उसमें से अपने विकास के अनुकूल तत्त्व प्राप्त होने लगते हैं, तब उसे अत्यधिक आनंद होता है। फिर तो उसे लगता है कि प्राप्ति या फल की बराबरी में वह परिश्रम बहुत ही कम था। यह समझ आते ही थोड़ी पूँजी से अधिक नफा पानेवाले से भी सवाया आनंद मिलता है। ऐसे दुर्बोध वर्ताव की अनिवार्यता भी उसे समझ में आने लगती है। कई बार कटु अनुभव से ही सीखने देने की अपने गुरु की बाह्य निर्दय पद्धति में सच्ची दया, चतुराई व प्रेम समाये होते हैं ऐसा उसे प्रतीत होने लगता है। और अपने सच्चे व प्रेमपूर्ण हितकारी को वह भ्रम में आकर कितना दोष देता था- ऐसा विचार स्फुरते ही

वह फिर से गुरु के प्रति आकर्षित होता है। अब उसे सूझता है कि विकट संजोगों में जानबुझकर उसे रखा गया तभी उसके अंदर निहित शक्ति जोर लगाकर बाहर निकल आयी व सख्त परिश्रम के बाद मिली हुई प्राप्ति सविशेष लाभदायक एवं आनंदप्रद हुई। इतनी कक्षा तक साधक पहुँचता है तब तक तो गुरु की सूक्ष्म असर का प्रभाव उस पर अधिक सरलता से होने लगता है। ऐसी असर होती है कि उसकी प्रतीति भी साधक में जाग्रत होने लगती है। इस प्रतीति के कारण ही वह फलप्राप्ति होने पर भी नम्र रह सकता है और समझता है कि गहरे पानी में धकेलनेवाले भी गुरु और छटपटाकर किनारे पहुँचने के उसके प्रयास में गुप्त सहायता करनेवाले भी गुरु है। इतना सारा शुभ परिणाम केवल सीधेसादे उपदेश से या वर्ताव से नहीं लाया जा सकता।

कई बार अपने शिष्य के उपर दुन्यवी कार्यों को लगभग असह्य बोझा लादकर गुरु उसकी प्रगति रोकता हुआ अथवा पीछेहट भी कराता हुआ दिखता है, परंतु उसमें भी उनका हेतु कल्याणकारी है और परिणाम भी ऐसा ही आता है। एक तो ऐसे कार्य सौंपे जाये तब श्रद्धा की भी कसौटी होती है, अनुभवों से प्राप्त नयी समझ के आधार पर ऐसे आदेश के पीछे गुरु का क्या शुभ हेतु होगा यह ढुँढ़ने में साधक की बुद्धि मथने लगती है। इसके परिणाम से पहले तो यही सूझता है कि इससे अपनी धीरज बँधती है। आध्यात्मिक मार्ग में जितनी उत्कंठा की आवश्यकता है, उतनी ही धीरज की और फल के लिए अनासक्ति की भी है। प्रवृत्ति की जंजाल में फँसने के बावजूद भी आंतरिक स्थिरता, शांति, स्वास्थ्य भी अपनेआप बनता है, इतना ही नहीं दुन्यवी कार्य करने की कुशलता भी उसे मिलती है। परंतु ऐसी प्रवृत्तियों में साधक को फँसाने में संत का सबसे प्रधान हेतु तो अपने साथ उसकी चेतना की झोर दृढ़ व अटूट हो जाय वह है, क्योंकि प्रवृत्ति में बह गया हुआ साधक थोड़ी-सी फुरसद मिलते ही अपने जीवनकार्य से विमुख हो गया है ऐसा प्रतीत होते ही सविशेष जोश से, खंत से और उत्साह से उसमें लग जाता है और ऐसी मुसीबत में अपनी ओर सदा खड़े रहनेवाले गुरु की ओर उसकी नज़र जाती है। इस प्रकार प्रतिकूल दिखनेवाले संजोगों को अपने अनुकूल करने की शक्ति उसे मिलती है।

कई बार गुरु जानबुझकर ऐसी वाणी उच्चारित

करते हैं कि जिसका भावार्थ विभिन्न कक्षा के श्रोता अपनी-अपनी शक्ति अनुसार भिन्न भिन्न करते हैं। परंतु सबसे सही अर्थ तो सबसे आगे बढ़े हुए साधक ही शायद समझ सकते हैं। परंतु किसीको उसका रहस्य समझ में न आये तब भी वह चिंता नहीं करता। शिष्यों के ज्ञानचक्षु इतने शक्तिशाली हो जाय कि वे इन रहस्यों को देख सके तब तक गुरु निश्चितता से इंतजार करते हैं। देव, दानव और मानव इन तीनों को भगवान ने 'द', 'द', 'द' ही कहा यह बात इसका एक दृष्टांत है।

साधना के मार्ग में प्रथम कदम रखनेवाले को कई बार अनुभव होता है कि गुरु उनकी योग्य या अयोग्य सारी इच्छायें पूर्ण करते हैं और उनके दास समान होकर रहते हैं। साधक के मन आदि में घूसे हुए सारे जड़ मंतव्य एवं आग्रह, बाह्य दबाव से नहीं परंतु साधक के ही पनपते हुए नये संस्कारों के परिणाम से नष्ट हो इस हेतु को ध्यान में रखकर गुरु आरंभ में ऐसा करते हैं। उन्हें इससे बहुत सहन करना पड़े तो इससे अपना प्रारब्ध पूरा हो रहा है ऐसा जानकर वह शांत रहता है। आखिर साधक को अपने स्वभाव का एवं मताग्रहों के अनुसार अकुशल वर्ताव की प्रतीति होती है और तब अपने कारण गुरुने कितना सारा सहन किया उसकी सुझबुझ होते ही उसका गुरु के प्रति प्रेम का फव्वारा एकदम जोर से उमड़ पड़ता है।

साधक को संतों के एक अन्य लक्षण का खयाल रखना पड़ेगा, नहीं तो वह थोड़े समय के लिए तो अवश्य पीसा जायेगा। सच्चे संत एक मानवी व्यक्ति नहीं परंतु जो विरोधाभासी गुणों का वर्णन हम प्रभु के विषय में करते हैं उनका शरीरधारी आविर्भाव है। इसप्रकार एक देह में अनेक व्यक्तियों का उनमें समावेश होता है। अतः उनके प्रत्येक शिष्य को वे अलग-अलग दिखाई देंगे। अतः कई बार गुरु एक को जो सूचना देते हैं वह दूसरे को दी गई सूचना से उनकी प्रकृति भेद के कारण विपरीत भी हो सकती है। इसी कारण श्रीरामकृष्ण परमहंस जब एक शिष्य को कुछ आध्यात्मिक सूचना देते तब दूसरे को उपस्थित रहने नहीं देते थे। अतः साधक को स्वयं को प्राप्त सूचना व गुरु के व्यक्त हो रहे व्यक्तित्व से ही संतोष मानना चाहिए तथा दूसरों को दी गई सूचना की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, यही हितावह है। आगे बढ़ते हुए अधिकाधिक तो इतना कर सकते हैं कि गुरु के

संपर्क का अधिक ध्यान देते हुए उसकी थोड़ी भी अवहेलना किये बिना गुरु दूसरों के साथ किस प्रकार विभिन्न प्रकार से वर्ताव करते हैं यह देखकर, गुरु की महत्ता का इस प्रकार सविशेष मूल्यांकन करके वह उससे प्रेरणा पायें तथा आनंद पायें ।

ऐसा कोई मत या सिद्धांत नहीं है कि जो गुरु का अपना विशिष्ट माना जाय । वे तो केवल पल पल बदलती हुई परिस्थिति व व्यक्ति के अनुरूप जिस प्रकार का भाव व व्यवहार योग्य हो वह तटस्थता से करते हैं । अतः उन पर शुष्कता या हृदयहीनता का आरोप बाह्य दृष्टि से अवश्य रखा जा सकता है । परंतु वास्तव में तो बिल्कुल तटस्थ दिखनेवाले उनके व्यवहार से भी सामनेवाली व्यक्ति को प्रगति के पथ पर एक कदम आगे बढ़ाने की सुगमता ही होती है । ऐसा लाभ प्राप्त करनेवाले को कई बार तो इसकी प्रतीति भी नहीं होती, इतना ही नहीं परंतु कभी कभी तो उल्टा संत के कोई विभिन्न वर्ताव के कारण एक प्रकार की घृणा या विरोध उसके मन में रहता है । कभी कभी जनमानस संत को न समझ सकने के कारण उन्हें पीड़ा पहुँचाता है उसका एक कारण संत की यह दुर्गमता भी है । ऐसी पीड़ा सहनेवाले संत तो सदा ब्रह्मानंद में निष्ठ होते हैं । इससे उनका शरीर पीड़ित होता है परंतु वे स्वयं तो भीतर से प्रसन्न ही रहते हैं । देशकार्य के लिए दुःख सहनेवाले या शहीद होनेवालों में कुछ को ऐसे अनुभव होते हैं, जिससे इसकी यथार्थता समझ में आयेगी ।

बालक की तरह संत क्या कभी रोते होंगे ? हाँ, वे हँसते भी हैं और रोते भी हैं, जब कोई साधक इतने निम्न स्तर का हो (परंतु कोई प्रारब्धवश संत के संपर्क में आया हो) और सामान्य उपायों से उसकी जड़ता दूर न हो तब गुरु स्वयं दुःख सहकर और रोककर भी उसकी हमदर्दी पाते हैं । कभी अत्यंत क्रोधित होकर उसकी भावना को बड़ा आघात पहुँचाते हैं तथा उसे उसकी गलती सुधारने के लिए एकदम सचेत करते हैं । परंतु साधक को हुए गुरु के हितकारी अनुभव साधक की उत्कट जिज्ञासा तथा गुरु के प्रति आंतरिक प्रेम इस गलतफहमी को हटाकर अंत में प्रेम ही प्रकटाता है ।

कुछ नियमों को वश न होना व तुरंत समझ में आये ऐसा वर्ताव न करने के पीछे गुरु का एक अन्य भी कारण है । वे किसी प्रकार के अभ्यासक्रम में या आध्यात्मिक उन्नति के लिए अमुक ही प्रकार का भाव

या वर्ताव होना चाहिए ऐसा नहीं मानते । वे तो केवल सर्वव्यापक चित्शक्ति का सजीव वाहन हैं, इससे आज के उनके वर्ताव से कल का वर्ताव भिन्न होना संभव है ।

साधक को इन कारणों से अपनी उन्नति के रूप में सिद्ध हुए अनुभवों के आधार पर गुरु के हाथ में अपनी जीवनझोर सौंप देनी चाहिए । श्रद्धा व हिंमत तथा दृढ़ता से आध्यात्मिक पथ की अनेक पगडंडीओं से गुजरते हुए या गुज़ारे जाते हुए डर या अश्रद्धा को अपने हृदय में घूसने नहीं देने चाहिए । अनुभवों की परंपरा के बावजूद भी जो शंकाशील रहा करेंगे उसे स्वयं ही अधिक कष्ट भोगने पड़ेंगे, ऐसे साधकों को उस कक्षा के लिए अपरिपक्व समझ के माने जायेंगे ।

प्रारंभ में साधक को पता नहीं चलता कि उसकी स्वयं कोई सूक्ष्म प्रभाव के परिणाम से घड़ाई होती जा रही है । उस समय दुःखद प्रतीत होनेवाले अनुभव भी उसे होंगे । परंतु जो ऐसी विरोधी परिस्थितियों को भी आनंदपूर्वक स्वीकार कर लेगा तो उसकी प्रगति त्वरित होगी । ऐसे धीमी या तेज भी उसकी प्रगति तो होनेवाली ही है । एक बार प्रभु की अस्पताल में भरती होने के बाद फिर पूर्णरूप से रोगमुक्त हुए बिना प्रभु छोड़ते नहीं हैं - ऐसा श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे ।

कभी कभी गुरु अपनी चमत्कारिक शक्ति का उपयोग भी करते हैं । परंतु जादूगर के और संतों के ऐसी असाधारण शक्तियों के उपयोग के हेतु में आसमान-जमीन का अंतर होता है । जब कोई साधक के भाव, वृत्ति या प्राण, चित्त आदि को उनकी जड़ता के कारण सख्त आघात देने की आवश्यकता हो अथवा यदि गुरु को लगे कि कुछ असाधारण अनुभव से साधक की आध्यात्मिक मार्ग में श्रद्धा व निष्ठा जमेगी तब ऐसी शक्ति का उपयोग निमित्तयोग से होता है । परंतु इसका अनुभव होने के बाद भी उसका किस प्रकार मन, बुद्धि आदि में स्वीकार करना वह साधक पर ही वे छोड़ते हैं । उसकी महत्ता समझाने की माथापच्ची वे नहीं करते क्योंकि साधक के दिल में स्वतः जो उठे वही टिकता है ।

यह लेख प्राकृतिक रूप से ही सर्वतोमुखी दर्शन नहीं करा रहा है, यह तो केवल अंगुलिदर्शन का एक नम्र प्रयास है, क्योंकि **लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥**

लोगों से श्रेष्ठ जो होते हैं, चित्त उनके

समर्थ किसको जाने ? गूढ में गूढ वे सदा ।